Nav Jyoti, Vol. 3, No. 8, Jan.-June & July-Dec. 2015 ISSN : 2249-7331

भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकास के दार्शनिक आधारों का एक समाजशास्त्रीय निर्वचन

डॉ0 राकेश प्रताप शाही*

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था औद्योगिक क्रांति से प्रभावित व्यवस्था है और औद्योगिक क्रांति स्वयं यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन के परिणामस्वरूप हुई है। भौतिक जीवन–स्तर में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं जिनके लिए प्रमुख रूप से विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति उत्तरदायी है। इस वसुन्धरा पर उपलब्ध सभी प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन पहले भी थे किन्तु उनका कभी भी इतनी निष्ठुरता के साथ दोहन और दुरूपयोग नहीं किया गया, जितना कि आज किया जा रहा है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में यूरोप में एक पुनर्जागरण एवं प्रबोधन का युग आया था जिसके परिणामस्वरूप मानव मात्र को एक नवीन शक्ति प्राप्त हुई। यूरोप को केन्द्र मानते हुए एक भूमण्डलीकृत समाज के निर्माण की सम्भावनाएँ वास्तविकता में बदल गयीं। यूरोप का सम्पूर्ण विश्व पर साम्राज्य हो गया। मानव संसाधनों, प्राकृतिक सम्पत्तियों एवं सांस्कृतिक विरासत की दृष्टि से कहीं अधिक समृद्ध भारत जैसे देश गुलाम हो गये। यूरोप ने अपनी तोपों के बल पर पूरे विश्व को अपने अधीनस्थ बना लिया। उसके बाद शनैः शनैः जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। कई उपनिवेशवादी सत्ता के गुलाम देश स्वतंत्र हुए। कालान्तर में तोप की संस्कृति उन देशों में भी पहुँची जो बर्बरतापूर्वक शक्ति का प्रयोग करते हुए गुलाम बना दिये गये थे। आज पश्चिमी विचारधारा विश्व के सभी देशों में चाहे वे विकसित हों अथवा विकासशील, धनी हो अथवा निर्धन, पश्चिम में स्थित हो अथवा पूर्व में, उत्तर में हो अथवा दक्षिण में, व्यापक रूप से विद्यमान है। ऐसी आशा की जाती थी कि स्वतंत्रता के बाद भारतवर्ष में एक अधिक अच्छी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। आज भारत सहित विश्व के सभी देश भौतिक समृद्धि के पीछे पागलों की तरह भाग रहे हैं और अपने प्राकृतिक एवं मानव–संसाधनों का अधिक से अधिक दोहन करते हुए भौतिक सुख–सुविधाओं को बढ़ाने में लगे हुए हैं।

यदि वर्तमान वैश्विक परिदृश्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें आज भी उपनिवेशवाद के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। निःसन्देह वर्तमान उपनिवेशवाद भिन्न प्रकार का है। यद्यपि आज उपनिवेशवादी साम्राज्य नहीं हैं, फिर भी विकासशील देशों को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देश अनवरत रूप से निर्देशित एवं नियंत्रित करते हैं और उन्हें इस बात के लिए बाध्य करते हैं कि वे उनकी विचारधाराओं और नीतियों का अनुसरण करें। धनी और निर्धन लोगों के जीवन–स्तरों तथा शक्ति के संसाधनों में बहुत बड़ा अन्तर है। जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं वे अपनी समृद्धि को और अधिक बढ़ाना चाहते हैं और इसके लिए किसी प्रकार के उचित और अनुचित साधनों का प्रयोग करने से नहीं हिचकिचाते हैं। इस प्रकार विकासशील देशों का अनवरत रूप से शोषण होता रहता है। इस शोषण के कारण सामाजिक तनाव उत्पन्न हुए हैं, आर्थिक विषमताएँ बढ़ी है। उद्योगवाद और उपभोक्तावाद के कारण मानव प्राणियों का भी व्यापारीकरण हुआ है। सभी जीवों में सर्वोत्तम समझा जाने वाला मानव आज उत्पादन का एक कारक मात्र संसाधन समझा जाता है। उसे एक ओर क्रय और विक्रय की जाने वाली वस्तु के रूप में देखा जाता है तथा प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करने वाले दुरूपयोगी के रूप में चित्रित किया जाता है। कृषि और कल–कारखानों का उत्पादन तो बढ़ा है किन्तु इसका बड़ा भारी मूल्य पारिस्थितिकीय असन्तुलन और मानव विघटन के रूप में सामने आया है। अनेक प्रकार की वस्तुओं और यंत्रों की उपलब्धता के बावजूद आज भी लाखों लोग भूख से मर रहे हैं और विभिन्न प्रकार की पतनोन्मुख परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने मानव को जो महान और अद्‌भुत शक्ति प्रदान तो की है किन्तु नैतिक आचार–संहिता के अभाव में इसकी सर्जनात्मक शक्ति का

* **समाजशास्त्र विभाग, श्री भगवान महावीर पी0जी0 कालेज, पावानगर (फाजिलनगर), कुशीनगर**

पूर्ण रूप में विकास नहीं हो सका और इसका मानव कल्याण हेतु अधिकतम सदुपयोग भी नहीं हो सका है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्र में हुए चमत्कारों ने मानव मात्र को इस बात के लिए बाध्य किया है कि वह इन्हें सर्वशक्तिमान मान ले। निःसन्देह इसके परिणामस्वरूप नये आयाम सामने आये हैं और मानव की शक्ति में प्रत्याशित वृद्धि हुई है। अपनी उपलब्धियों पर गर्व करता हुआ मानव विकास के दो प्रमुख और सुदृढ़ स्तम्भों–नैतिक एवं आध्यात्मिक के साथ अपना सन्तुलन खो बैठा है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में हुई प्रगति के कारण व्यक्ति यह भूल बैठा कि केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके एक मानव सुलभ जीवन नहीं जिया जा सकता है। वास्तव में आर्थिक प्रगति का कुछ घरानों में संकेन्द्रण हुआ और इसके लाभ समाज में निर्धन वर्गों तक नहीं पहुँच पाये। अन्ततः प्रतीत होने वाली विजय वास्तव में पराजय सिद्ध हुई। लोग यह मानने के लिए बाध्य हुए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति उनके लिए केवल वरदान ही नहीं है, बल्कि अभिशाप भी है। वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक ज्ञान निःसन्देह शक्ति प्रदान करता है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं करता कि इस शक्ति का किस प्रकार उपयोग किया जाय। यह शक्ति यदि समाज के हित में प्रयोग में लायी जाती है तो सकारात्मक सिद्ध होती है और यदि यह दुरूपयोग एवं शोषण के लिए उपयोग में लायी जाती है तो नकारात्मक सिद्ध होती है। अकेला विज्ञान पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके साथ दर्शन की भी आवश्यकता है जो हमें स्पष्ट रूप से बता सके कि हमें किस दिशा में जाना है और मानवता के हित में क्या है ? दर्शन प्रत्येक घटना को सम्पूर्णता का अंग मानता है और अपने विषय–क्षेत्र में पदार्थ और चेतन दोनों को समाहित करता है। भारतवर्ष का विश्व में अपना एक गौरवपूर्ण स्थान रहा है। नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में इसने सम्पूर्ण विश्व का मार्ग–दर्शन किया है। भारतवर्ष ने ही लोगों को 'श्रेयश' और 'प्रेयष' के बीच अन्तर करना सिखाया है। कोई भी ज्ञानी श्रेयष को प्राथमिकता प्रदान करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य का सर्वेक्षण करने से यह पता चलता है कि सामाजिक–धार्मिक संरचना दो प्रमुख मान्यताओं पर आधारित रही है। पहली मान्यता यह रही है कि आत्मा शाश्वत है, यह कभी जन्म नहीं लेती और न ही कभी मरती है। मानव–शरीर इसका अस्थायी निवास है। इस विश्वास के कारण ही लोगों को विवश होकर श्रेयष को प्राथमिकता देने के लिए सोचना पड़ा है। ईश्वर में समाहित होने की यात्रा में यह जीवन केवल एक पड़ाव है और सभी आनन्ददायी वस्तुएँ जिनका कठिन परिश्रम करते हुए संग्रह किया जाता है अर्थहीन है और यहीं छूट जाती हैं–इस अवधारणा का प्रयोग लोगों को अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हुए आर्थिक विकास एवं भौतिक प्रगति के पथ पर प्रशस्त होने के लिए रोकने हेतु किया जाना चाहिए। एक दूसरा तथ्य जिसने भारतीय मानस प्रभावित किया है वह 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की अवधारणा है। गीता में भी कहा गया है–'मतः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।' (गीता 7/7) इस प्रकार किसी को भी दूसरों के हितों पर ध्यान दिये बिना केवल अपने हित के लिए किसी भी चीज का शोषण एवं दुरूपयोग करने एवं एक सरल एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को रखने का अधिकार नहीं है। कदाचित् इसी विचारधारा ने लोगों को समाज के पिछड़े और निर्बल वर्गों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए अपने को लगाने–'सर्व भूत हितेरताः' के लिए सम्प्रेरित किया है।

पुरुषार्थ और मानव विकास

हिन्दू दर्शन पुरुषार्थ की अवधारणा के माध्यम से जीवन के चार मूलभूत उद्देश्यों को प्रतिपादित करता रहा है। पुरुषार्थ का वास्तविक अर्थ 'पुरुष होने का अर्थ' है। प्रत्येक व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लक्ष्यों की प्राप्ति करना चाहता है और यही लक्ष्य विकास के मनोनैतिक आधारों का निर्माण करते हैं, क्योंकि एक ओर व्यक्ति को पुरुषार्थों के प्रबन्धन की दृष्टि से आश्रमों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है, वहीं दूसरी ओर उसे इन आश्रमों से सम्बन्धित नैतिक पाठों के अनुसार समाज में अपने कर्तव्यों का सम्पादन करना पड़ता है। पुरुषार्थों के अर्थ और इनके महत्व को ठीक से समझते हुए ही व्यक्ति विकास की प्रक्रिया के प्रबन्धन के लिए आवश्यक उपयुक्त मानसिकता एवं कार्य–पद्धति को ठीक से समझने में समर्थ हो सकता है।

धर्म शब्द संस्कृत भाषा के 'धृ' धातु से बना है। इसका अर्थ एक साथ बाँध कर रखना है, संरक्षित करना है। धारयति धर्मः के सिद्धान्त से सुस्पष्ट है कि सद्गुणों का धारण ही धर्म है जो पूरे समाज को एक साथ बाँधने और एक सूत्र में पिरोने में सहायता करता है। यह धर्म ही है जो मानव प्राणियों को अन्य प्राणियों से भिन्न प्रमाणित करता है–

'आहार निद्राभय मैथुन च समानेतद्पशुभिः।
धर्मोहि तेषाम् अधिको विशेषः, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।'

धर्म किसी भी समाज के संतुलित विकास के लिए आवश्यक नैतिकता और मानव मूल्यों का विकास करता है, धर्म सभी प्राणियों के कल्याण को प्रोत्साहित करता है, यह इस सृष्टि में जो भी चर और अचर रूप से विद्यमान है, उसके संरक्षण और अनुरक्षण की व्यवस्था करता है। धर्म का प्रयोग कर्म के, अर्थात् प्रत्येक वर्ण के दायित्वों के, पर्यायवाची के रूप में किया गया है। धर्म को एक पथ–प्रदर्शक के रूप में, मार्ग–दर्शक के रूप में, आत्मा को झकझोरने वाली शक्ति के रूप में, निदेशक के रूप में और उन गुणों के निवेचन के निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में चित्रित किया गया है जो निर्माण सम्बन्धी क्रियाओं के उपयुक्त प्रबन्धन और मानव एवं सामाजिक पर्यावरण के बीच उपयुक्त सम्बन्धों के निर्माण एवं अनुरक्षण के लिए आवश्यक है। यह अर्थ तथा काम के बीच में संतुलन उत्पन्न करता है।

अर्थ एक सामान्य शब्द है जिसका अभिप्राय सांसारिक समृद्धि यथा धन एवं शक्ति के आधिपत्य से है। इसका अभिप्राय वस्तुओं के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग से सम्बन्धित क्रियाओं से भी है। महाभारत महाकाव्य में मानव जीवन में सम्पत्ति का बहुत अधिक महत्व बताया गया है और निर्धनता को पापपूर्णता की स्थिति के रूप में चित्रित किया गया है (महाभारत, 12/8/14)। सभी प्रकार के अच्छे कार्य सम्पत्ति के आधिपत्य से ही सम्भव होते हैं और सम्पत्ति से ही सभी धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित होती हैं और सभी सुख और यहाँ तक कि स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है। (महाभारत, 12/8/16–17)। कौटिल्य ने संस्तुति की है कि राज्य को उन लोगों को दण्ड देना चाहिए जो परिवार तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का सम्पादन किये बिना संसार का परित्याग करते हैं (गोपालन, 1979 : 72)। आर्थिक विकास के भारतीय सिद्धान्त की उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इसने सम्पत्ति की एक उपकरणात्मक मूल्य के रूप में गम्भीर समीक्षा की है। हमारे दार्शनिकों ने अर्थ को समाज में कर्तव्यों के सम्पादन के लिए विशुद्ध रूप से एक साधन के रूप में माना है। भारतीय दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त यह रहा है कि साधनों का महत्व उतना ही है जितना कि लक्ष्यों का और इसीलिए यह आवश्यक है कि अर्थ की प्राप्ति तथा इसका उपयोग दोनों ही नैतिकता का अनुपालन करते हुए किया जाना चाहिए। उद्देश्य चाहे कितने पवित्र क्यों न हो, किन्तु यदि उनकी प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाये गये साधन पवित्र नहीं हैं तो साधनों का महत्व समाप्त हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू ने भी यह कहा था, 'लक्षित उद्देश्यों एवं इनकी प्राप्ति के लिए अपनाये गये साधनों में एक निकट और अन्तरंग सम्बन्ध सदैव से रहा है। यदि उद्देश्य सही भी है किन्तु साधन गलत हैं तो इससे उद्देश्य अपवित्र होगा अथवा गलत दिशा में चला जायेगा। इस प्रकार उद्देश्य एवं लक्ष्य अन्तरंगता और अभिन्नता के साथ सम्बन्धित हैं और अलग नहीं किये जा सकते। अतीत में हमें अनेक महान व्यक्तियों द्वारा यही पाठ पढ़ाया गया है, किन्तु यह शायद ही कभी याद रखा जाता है' (उद्धरण, 1049)।

1. सम्पत्ति का अधिग्रहण अपनी ऐन्द्रिक इच्छाओं की संतुष्टि के लिए न होकर व्यक्तित्व को विकसित करने के पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होना चाहिए (महाभारत, 12/25/22)।
2. किसी को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वास्तव में आवश्यक सम्पत्ति से अधिक नहीं प्राप्त करना चाहिए।

यहाँ यह इंगित करना समीचीन होगा कि भारतवर्ष में समाज के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक सम्पत्ति के उत्पादन एवं वितरण के नैतिक आधार समाप्त हो गये हैं, क्योंकि लोग सम्पत्ति को नियंत्रित करने वाले धर्म के सिद्धान्तों का अनुपालन करने में असमर्थ हैं और दूसरों के हितों के मूल्य पर अपनी सम्पत्ति अधिग्रहण को संकीर्ण प्रवृत्ति को दृढ़निश्चय के साथ नियंत्रित नहीं करना चाहते। डॉ0

राधाकृष्णन ने यह विचार व्यक्त किया है कि जीवन में आर्थिक मूल्यों से बढ़कर भी कुछ बातें हैं। हम लोग मानव हैं, केवल उत्पादक अथवा उपभोक्ता, संचालक अथवा उपयोग करने वाले मात्र नहीं। यदि यह विश्व एक स्वर्ग के रूप में परिवर्तित हो जाय और इसमें चारो ओर दुग्ध और मधु की वर्षा होने लगे तथा सस्ते मशीन चालित वाहन और रेडियो हरेक को मिल जाय, फिर भी हमारे अन्दर शान्ति और वास्तविक प्रसन्नता नहीं आ पायेगी (डॉ0 राधाकृष्णन, 1947:61)।

काम (इच्छा) शब्द व्यक्ति के जीवन में आनन्द लेने और इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की सभी इच्छाओं को सम्बोधित करता है। इन इच्छाओं को सम्बोधित करता है। इन इच्छाओं में काम–वासना भी सम्मिलित है और सामान्यतया लोग काम शब्द का अर्थ वासना ही समझते हैं। काम शब्द का अर्थ काफी व्यापक है। इसमें सभी प्रकार की इच्छाएँ सम्मिलित हैं। इनमें भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति से लेकर आध्यात्मिक उन्नति तक की सभी इच्छाएँ सम्मिलित हैं (गोपालन, 1979 : 98)। काम एक ऐसी केन्द्रीय शक्ति है, जो व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। यह व्यक्ति को उन क्रियाओं को सम्पादित करने की सम्प्रेरणा प्रदान करती है जो भौतिक सुविधाओं का संवर्द्धन करती है। पवित्रता, सम्पत्ति का अर्जन और आत्माबोधन (धर्म, अर्थ, मोक्ष) सभी मानव की बलवती इच्छाओं (काम) के परिणामस्वरूप ही अपना अस्तित्व रखते हैं। काम–वासना को भी आवश्यक रूप से नहीं दबाया जाना चाहिए, क्योंकि प्राकृतिक इच्छा को दबाने का व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है और समाज के विकास के लिए आवश्यक कल्याण सम्बन्धी क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न होता है। काम–वासना की संतुष्टि न होने पर तनाव उत्पन्न होता है और जब तक यह तनाव बना रहता है, तब तक न तो व्यक्तिगत, सामाजिक क्रिया प्रभावपूर्ण रूप से सम्पादित हो पाती हैं और न ही समाज के विकास में समुचित योगदान सम्भव हो पाता है। तथापि हमारे धर्म–ग्रन्थों में निर्धारित मूल्यों के आधार पर ही इस काम–वासना की संतुष्टि की जानी चाहिए। आज हमारे सामने अनेक प्रकार की इच्छाएँ विद्यमान हैं और इन पर आत्म–नियंत्रण करने की हमारी क्षमता बहुत निर्बल हो गयी है। परिणामस्वरूप हम इन इच्छाओं के नैतिक ढंग से पूर्ति के निर्धारित मार्गों से सुस्पष्ट रूप से विचलित दिख रहे हैं। काम–वासना एक बलशाली शक्ति है जो जीवन को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित करती है। यदि इसकी संतुष्टि के समुचित सुअवसर नहीं प्राप्त होते तो यह अनेक प्रकार की दृष्कृतियाँ और असमानताएँ उत्पन्न करती हैं। प्रत्येक समाज काम–वासनाओं के संतुष्टि हेतु कुछ मान्यताओं पर आधारित मापदण्ड निर्धारित करता है। दुर्भाग्य से नैतिक मूल्यों का बहुत तेजी से क्षरण हुआ है और हमारे व्यक्तित्व का विघटन हो रहा है। इच्छाओं की पूर्ति के समाज द्वारा निर्धारित साधन उन मूल्यों को खो चुके हैं जो पहले उनके साथ जुड़े थे। यदि हम सम्पूर्ण और संतुलित विकास चाहते हैं तो हमें पवित्र उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु पवित्र साधनों को अपनाना ही पड़ेगा।

मोक्ष चौथा पुरुषार्थ है। यह एक ऐसी आन्तरिक शक्ति है जो व्यक्ति को सही क्रियाएँ करने हेतु बाध्य करती है, ताकि जीवन एवं मरण के बन्धनों से आत्मा को छुटकारा प्राप्त हो सके।

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार ऐसे लक्ष्य हैं, जिनकी नैतिक प्राप्ति भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक संसाधनों का प्रयोग करते हुए की जा सकती है। यह लक्ष्य व्यक्तित्व के बहुमुखी एवं समुचित विकास को प्रोत्साहित करते हैं, एकतापूर्ण सामाजिक क्रिया का संवर्द्धन करते हैं और जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म के चक्र से छुटकाा दिलाते हैं।

वर्ण–व्यवस्था और मानव–विकास

रचनाकार के शरीर के विभिन्न अंगों से वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धान्त का उत्पादन वेदों, उपनिषदों, महाभारत और मनुस्मृति में किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण का विवरण और उनके विभिन्न कर्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख हमें इन ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है। यह वर्गीकरण रंग, शारीरिक संरचना अथवा शरीर के आकार के आधार पर नहीं किया गया था। सम्भवतः इसे सर्वाधिक व्यापक मनोवैज्ञानिक एवं संवगात्मक स्थिति के आधार पर किया गया था। प्रकृति के नियमों में विविधता का समावेश है। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रकार का अनोखा है। कोई भी दो व्यक्ति अपनी संवेगात्मक संरचना और बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से एक जैसे नहीं हो सकते। इनमें प्रत्येक वासनाओं

(इच्छाओं) की अभिव्यक्ति है। अतीत के विचारों और क्रियाओं के सम्पूर्ण प्रभाव को वासना के नाम से जाना जाता है। ये वासनाएँ सभी लोगों में एक जैसी नहीं होतीं। यह मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं–सात्विक, राजसी और तामसी। सात्विक वासनाएँ संवेदनशील और शान्तिपूर्ण होती हैं, राजसी वासनाएँ गतिशील और सक्रिय होती हैं तथा तामसी वासनाएँ मन्द और सुस्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में इन तीनों प्रकार की वासनाओं का एक अनोखा सम्मिश्रण पाया जाता है जो व्यक्तित्व की विशेषता को परिलक्षित करता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में इन तीनों में से कोई एक वासना प्रधान रूप से विद्यमान रहती है और उसी के आधार पर हम उस व्यक्ति को सात्विक, राजसी और तामसी प्रवृत्ति वाला मानकर उसके साथ अपना आचरण और व्यवहार करते हैं। जिन व्यक्तियों में सात्विक गुण की प्रधानता होती है उन्हें ब्राह्मण, जिनमें राजसी गुणों की प्रधानता होती है उन्हें क्षत्रिय और जिनमें राजसी गुणों के साथ–साथ कुछ सात्विक गुण और तामसी गुण विद्यमान रहते हैं उन्हें वैश्य कहते हैं और जिनमें तामसी गुणों की प्रधानता होती है उन्हें शूद्र कहते हैं और ये लोग श्रमिक और कर्मचार के रूप में सेवाएँ प्रदान करने की दृष्टि से उपयुक्त होते हैं।

ये चारों प्रकार के कार्य किसी भी समाज की व्यवस्था को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। नीतियाँ निर्धारित की जानी होती हैं और योजनाएँ बनायी जानी होती हैं। ये कार्य मनीषियों और विचारकों (ब्राह्मणों) द्वारा किये जाते हैं। नीतियों और योजनाओं को उत्साह के साथ कार्य रूप में परिणीत किया जाना होता है और यह कार्य करने वाले क्षत्रिय कहलाते हैं। कार्यक्रमों को चलाने के लिए संसाधनों की आवश्यकता होती है और इनको जुटाने वाले लोग वैश्य कहलाते हैं और कार्यक्रमों के आयोजन में अपना खून–पसीना बहाकर योगदान देने वाले व्यक्तियों को शूद्र कहा जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण के पीछे प्रमुख विचारधारा यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपनी वासनाओं के अनुसार कार्य करते हुए अधिक से अधिक योगदान देना चाहिए। क्योंकि वासनाओं के स्वरूप विविध प्रकार के होते है। सम्पूर्ण मानवता को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चार स्पष्ट वर्गों–चार वर्णों में विभाजित किया जा सकता है। यह स्वाभाविक ही है कि हमारे शास्त्र इस बात की स्पष्ट संकेत देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मूल प्रवृत्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त जीवन–शैली अपनाते हुए अपने जीवन को व्यतीत करना चाहिए। जो अपने कर्तव्यों (कर्मों) को अपने वर्ण के अनुसार प्रतिपादित करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है। गीता में यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है कि चारों वर्णों का निर्माण मेरे द्वारा कर्मों के आधार पर किया गया है और अपने–अपने वर्णों के कर्तव्यों को सुचारू रूप से सम्पादित करते हुए संसिद्धि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति जन्मना किसी निश्चित वर्ण का नहीं हो सकता। विभिन्न पुराणों और धर्म–ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें लोगों ने अपनी वासनाओं और उनके अनुसार कर्तव्यों में परिवर्तन करते हुए अपना वर्ण परिवर्तन किया है। एक केवट–कुल से उत्पन्न हुए वेदव्यास महर्षि हुए। विश्वामित्र ने भी महर्षि की उपाधि प्राप्त की। वर्णों के इस चतुर्वर्गीकरण का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रकृति उसके द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाली किसी भी कर्म की निष्पत्ति का निर्धारण करती है। यदि व्यक्ति इस प्रकार की वासनाओं से मुक्त है जो उसके द्वारा प्रत्याशित एवं अपेक्षित कर्म की आवश्यकताओं के अनुरूप है तो वह उस कार्य विशेष हेतु सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति होता है। वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत लोगों को उनकी सर्वाधिक व्यापक मनोवैज्ञानिक एवं संवेगात्मक स्थितियों अर्थात् वासनाओं के आधार पर कार्य निर्धारित किये गये थे और लोगों को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वे कुछ विशिष्ट प्रकार के ज्ञान एवं निपुणताओं को अर्जित करने के उपरान्त अपनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वासना में परिवर्तन करते हुए अपने कार्य को भी परिवर्तित कर सकें। गुरुकुल ऐसे प्रशिक्षण केन्द्र थे, जिनमें समाज ने विभिन्न प्रकार के प्रकार्यों की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित विविध प्रकार की निपुणताएँ विकसित की जाती थीं। सेवायोजन और व्यवसाय की एक परम्परागत व्यवस्था थी। दुर्भाग्य से कालान्तर में समाज का यह प्रकार्यात्मक विभाजन जिसमें व्यक्ति को उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक मनोवैज्ञानिक तथा संवेगात्मक स्थिति के आधार पर कार्यों का आवंटन किया जाता था, जन्म पर आधारित जाति–व्यवस्था के विकृत स्वरूप में

परिवर्तन हो गयी जिसमें व्यक्ति द्वारा अपने सम्पूर्ण जीवन में किये जाने वाले विविध प्रकार के कार्य केवल जन्म की आकस्मिकता मात्र पर आधारित हो गये और इसका परिणाम यह हुआ कि इसे इसी देश में घोर निन्दा का शिकार होना पड़ा। जन्म के आधार पर निर्धारित जाति–व्यवस्था जिसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से निर्धारित हो जाती है और उसे आजीवन अपनी जाति विशेष हेतु निर्धारित कार्य करने हेतु बाध्य होना पड़ता है, की न केवल व्यापक निन्दा हुई है, बल्कि भारतीय संविधान में इसके द्वारा अर्जित की गयी सामाजिक असमानताओं को विधि–विरोधी भी घोषित कर दिया गया।

आश्रम व्यवस्था एवं मानव विकास

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवनकाल को जिसे 100 वर्ष माना गया है, चार चरणों में बाँटा गया है और इन चार चरणों को आश्रम की संज्ञा दी गयी है। आश्रम शब्द संस्कृत में श्रम शब्द से बना है जिसका अभिप्राय कठोर परिश्रम करने से है और व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसमें दो कार्य हो सकते हैं :

1. वह स्थान जहाँ यह कठोर परिश्रम किया जाय और
2. इस प्रकार के कठोर परिश्रम को करने की क्रिया (गोपालन, 1979–2000)।

इस सिद्धान्त के पीछे सन्निहित विचार यह है कि मोक्ष के चरम लक्ष्य की प्राप्ति जीवनकाल के विभिन्न चरणों में एक के बाद एक अनवरत रूप से अग्रसरित होते हुए ही की जा सकती है और चरणों में किये गये कठोर श्रम से व्यक्ति और समाज दोनों का समुचित विकास सम्भव हो सकता है और पूर्णता आ सकती है। चारों आश्रम समाज में व्यक्ति के जीवन के विभिन्न सोपान इंगित करते हैं जो अभिमुखीकृत होता है। ब्रह्मचर्याश्रम का प्रथम चरण मूल चरण है। इस चरण में निर्धारित भूमिकाओं और दायित्वों को प्रभावपूर्ण रूप से सम्पादित करते हुए जीवन–यापन के लिए अपेक्षित शिक्षा का चरण है। इस चरण में व्यक्ति को आत्मनियंत्रण, आत्मनिर्भरता तथा श्रम की महत्ता की कला को सीखना पड़ता है। जीवन के प्रारम्भिक चरण में जब यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व में पूर्णरूपेण समाहित हो जाते हैं तो आजीवन उसकी सोच तथा आचार एवं व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। आश्रम व्यवस्था में माता–पिता का यह प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य था कि वे अपने बच्चों को गुरूकुल में पढ़ने हेतु भेजें। इन गुरूकुलों में वर्ण के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होता था। गुरूकुल व्यवस्था के अन्तर्गत एक शिष्य से अपेक्षा की जाती थी कि वह गुरु के कुल के एक सदस्य के रूप में उसके चरणों में बैठ कर उसकी सेवा और सुश्रुषा करते हुए अपना अध्ययन करे और अपने शिष्य के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षक की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। अपने परिवार की स्थिति के आधार पर बिना किसी प्रकार का विरोधात्मक व्यवहार करते हुए शिष्य साधारण जीवन व्यतीत करता हुआ शिक्षा ग्रहण करता था। यह शिक्षा व्यावहारिक और जीवनोपयोगी थी। इसमें श्रम की महत्ता पर विशेष बल दिया जाता था और ऐसे कार्यों में शिष्यों को लगाया जाता था जो शारीरिक श्रम की अपेक्षा करते थे, शिक्षा कठोर अनुशासन विकसित करती थी, जिसके परिणामस्वरूप आत्म नियंत्रण की क्षमता विकसित होती थी और एकीकृत व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती थी। ऐसी शिक्षा समाज में अपने कर्त्तव्यों को संतोषजनक ढंग से प्रतिपादित करने में सहायक सिद्ध होती थी। विद्यार्थी के अन्तर्गत विकसित हुआ आत्म नियंत्रण संवेगों और अवांछनीय इच्छाओं के नियंत्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतिपादित करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करने के बाद व्यक्तित्व से अपेक्षा की जाती है कि वह अगले आश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि इस आश्रम के व्यक्ति समाज में अन्य तीनों आश्रमों के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे और उन्हें यथासम्भव सहायता प्रदान करते थे। भारतीय दर्शन में व्यक्तित्व के विकास एवं समाज के लिए काम वासनाओं की संतुष्टि महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। विवाह एक संस्कार माना जाता था और इसे जन्म जन्मान्तर का पवित्र सम्बन्ध स्वीकार किया जाता था। इस आश्रम का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में सन्निहित है कि यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास एवं सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रभावपूर्ण सम्पादन दोनों के सुअवसर प्रदान करता था।

वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि यह वैयक्तिक इच्छाओं का उदात्तीकरण करते हुए प्रौढ़ता की ओर अग्रसारित हो। उसे अपनी अन्तरात्मा में अपने परिवार से अलग रहने लगता था और सम्पूर्ण समुदाय के कल्याण के विषय में अनवरत रूप से सोचता हुआ कार्यरत रहता था।

सन्यास आश्रम का अन्तिम चरण व्यक्ति से अपेक्षा करता था कि वह इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुख और दुःख का पूर्णरूपेण परित्याग करते हुए अपने को माया मोह के बन्धन से अलग करे और परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके दर्शन की दिशा में अनवरत अग्रसित हो कर मोक्ष की प्राप्ति करे।

आश्रम व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति समूह और समाज का कल्याण करना था। इस व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में पंच ऋण के सिद्धान्त, पंच महायज्ञों के सिद्धान्त और पुरुषार्थों के सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है। हमारे धर्म ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट विवरण उपलब्ध है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया में उसके ऊपर कुछ ऋण हो जाते हैं और इन ऋणों का भुगतान प्रसन्नता और संतोषपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है। यह ऋण पाँच प्रकार के बताये गये हैं :

1. देव ऋण, जो देवताओं के प्रति देय होता है।
2. ऋषि ऋण, जो ऋषियों के प्रति देय होता है।
3. पितृ ऋण, जो पूर्वजों के प्रति देय होता है।
4. अतिथि ऋण, जो अतिथियों के प्रति देय होता है।
5. जीवन ऋण जो पशुओं, पक्षियों, पौधों इत्यादि के प्रति देय होता है।

इन ऋणों से छुटकारा पाने के लिए पाँच प्रकार के यज्ञों की संस्तुति की गयी है, जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जाने चाहिए, ये यज्ञ इस प्रकार है :

1. देव यज्ञ
2. ऋषि यज्ञ
3. पितृ यज्ञ
4. अतिथि यज्ञ
5. जीव यज्ञ

देव यज्ञ को ईश्वरीय शक्तियों का शुभाशिर्वाद प्राप्त करने हेतु किया जाता है। इसका सम्पादन उच्चतम त्याग और बलिदान की भावना से किया जाता है ताकि ईश्वर की कृपा से सम्पूर्ण विश्व में प्रसन्नता एवं शान्ति अनुभव की जा सके। इसके पीछे सन्निहित भावना 'लोकाः समस्ताः सुखिना भवन्तु' की थी। यह प्रत्येक ब्रह्मचर्य आश्रम के दौरान सिखाए और बताए गए उत्तरदायित्वों की पूर्ति करें। इसे ऋषि यज्ञ की संज्ञा दी गयी। धर्म का अनुसरण करते हुए पुत्र और पुत्रियों की प्राप्ति भी आवश्यक है। इसके लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए निर्धारित आचरण एवं व्यवहार के प्रतिमानों को अपनाते हुए संतानोत्पत्ति करना पितृ यज्ञ है। हमारे यहाँ 'अतिथि देवो भव' की परम्परा रही है। अतिथि सत्कार हेतु अनेक महापुरुषों ने स्वयं भूखे रहकर अतिथि यज्ञ को सम्पादित किया है अतिथि की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हर तरह का त्याग और बलिदान किया जाता है, यहाँ तक अपने पुत्र को स्वयं आरा चलाकर टुकड़ों में विभाजित किया है। जीव, यज्ञ सभी जीवित प्राणियों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए सम्पादित किया जाता है। इसके अधीन भोजन के पूर्व अग्रासन निकालने की भोजनोपरान्त पालतू स्वानों को भोजन देने की, फलदार वृक्ष लगाने इत्यादि की महान परम्परा रही है। जो व्यक्ति इन यज्ञों का सम्पादन करने में असफल रहता है, उसे मोक्ष पाने का अधिकार नहीं है। सभी विकासशील देशों में, और विशेष रूप से भारतवर्ष में, क्रान्ति लाने का विचार एवं परम्परा का निन्दा करने और उसे समूल नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है जो हमारे पूर्वजों में शताब्दियों के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जीवन–यापन के लिए उपयोगी सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत की थी। किन्तु यहाँ पर यह परम्पराएँ हैं, बौद्धिक ईमानदारी है और मनोशारीरिक एकता है जो राष्ट्र के पूर्ण निर्माण हेतु आवश्यक है। इस प्रकार कोई भी राष्ट्र न तो विकसित हो सकता है और न तो सम्पन्नशाली/पुराना स्वर्णिम है।

प्रत्येक पुराने विचार और परम्परा का परित्याग कर हम न तो समृद्धि की प्राप्ति कर सकते हैं और न ही शान्ति की। परम्परागत व्यवस्था की समीक्षा इस दृष्टि से की जानी होगी कि इसमें ऐसे तत्व सहायक हो सकते हैं और उन्हें हर कीमत पर संरक्षित किया जाना चाहिए। निःसन्देह, उनमें परिवर्तन हुई परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में संशोधित करना होगा।

कर्म का दर्शन और मानव विकास

भारतीय समाज प्रारम्भ से ही लोगों के समुचित विकास पर बल देता रहा है और दूसरों के विकास के लिए, विशेष रूप से ऐसे व्यक्तियों जो संकट और आपदाओं के शिकार रहे हैं, त्याग और बलिदान करने पर बल देता रहा है। हमारा समाज 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्त निरामयाः, सर्वे भ्रदाणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेतु' में विश्वास करता रहा है और व्यक्तित्व के अधिकतम विकास के लिए इसमें सन्निहित योग्यताओं एवं क्षमताओं के पूर्ण प्रस्फुटन के लिए ही वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की गयी थी। सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था पूरे मानव जीवन काल को चार स्थितियों में विभाजित करती है जिन्हें आश्रमों के नाम से जाना जाता है और यह चार लक्ष्यों–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिन्हें पुरुषार्थों के नाम से जाना जाता है, पर बल देती है। वर्ण व्यवस्था सर्वाधिक व्यापक रूप से व्यक्तित्व में विद्यमान संवेगात्मक, रागात्मक एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति के अनुसार लोगों को शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान करते हुए निर्धारित कर्त्तव्यों का प्रभावपूर्ण रूप से सम्पादन कराने का प्रावधान करती है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के धर्मानुकूल कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं और यह अपेक्षा की गयी है कि व्यक्ति समाज में रहते हुए इन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पादित करेगा।

भारतीय दर्शन में कर्म का अर्थ क्रिया, कृत्य अथवा गतिविधि माना गया है। कर्म केवल शारीरिक क्रिया एवं इसके प्रभाव ही नहीं है बल्कि इसमें वे क्रम भी सम्मिलित हैं जो विचारों, शब्दों और कृत्यों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। साथ ही साथ इसके अन्तर्गत इनके परिणाम भी समाहित हैं। यह बात सदैव ध्यान में रहनी चाहिए कि प्रत्येक क्रिया चाहे किसी भी रूप में विचारों, शब्दों अथवा कृत्यों के रूप में हो प्रतिक्रिया को जन्म देती हैं। अनुवर्तीय प्रतिक्रिया न केवल विशिष्ट क्रिया के कर्त्ता को प्रभावित करती है बल्कि उन लोगों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है जो इससे सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि हम उन कार्यों पर गम्भीरता से ध्यान दें जो हमारे द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। कर्म सिद्धान्त के व्यक्ति को अपने कार्यों के परिणाम भुगतने पड़ते हैं। पुनश्चः अच्छे कार्य अच्छे परिणामों को जन्म देते हैं और बुरे कार्य बुरे परिणामों को। जब क्रियाएँ ठीक से सम्पादित नहीं की जाती तो उनके परिणाम निश्चित रूप से दुःखद और अवसादकारी होते हैं। किसी एक व्यक्ति की भी गलत क्रिया आपदा को जन्म दे सकती है और दूसरों के लिए दुःख का विषय बन सकती है। अच्छे कार्यों पर आधारित कर्म विकास, शान्ति एवं सम्पन्नता लाता है बुरे कार्यों पर आधारित कार्य सामाजिक तनाव, संघर्ष, कलह, फूट और अव्यवस्था को उत्पन्न करता है और समाज में प्रतिमान शून्यता और अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न करता है। इसलिए इस प्रकार की क्रिया की आवश्यकता है जो न तो व्यक्ति को और न ही समाज को किसी भी प्रकार से क्षति पहुँचा सके। परम्परागत वर्ण व्यवस्था जिसका प्रतिपादन हिन्दू धर्म में किया गया है, अच्छे कार्यों की निष्पत्ति को सुनिश्चित करती है।

कर्म तीन प्रकार के हैं–

1. सात्विक कर्म
2. राजसी कर्म और
3. तामसी कर्म

वे कर्म जो निर्धारित नियमों का अनुपालन करते हुए किसी दर्प, अभिमान, परिणाम की इच्छा, राग तथा द्वेष के बिना किये जाते हैं, वे सात्विक कर्म कहलाते हैं (गीता 8/23)। वे कर्म जो कठोर परिश्रम करते हुए किए जाते हैं और फलोन्मुखी होते हैं, उन्हें राजसी कर्म कहा जाता है (गीता 8/24) वे कर्म जिन्हें अज्ञानतावश किया जाता है तामसी कहा जाता है (गीता 8/25) कर्म सिद्धान्त के अनुसार किसी भी कर्म को किसी प्रकार के पुरस्कार की इच्छा से सम्प्रेरित नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा कर्म

व्यक्ति को लम्बी अवधि के दौरान लाभ नहीं प्रदान करेगा। क्रिया में सम्मिलित होने पर विविध प्रकार के अनुभव होते हैं। अतः क्रिया को सम्पादित करने का सही ढंग जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का हित हो, अपनाते हुए और अन्तरात्मा की आवाज को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण निष्ठा, लगन, भक्ति, भावना, समर्पण एवं उत्साह के साथ सम्पादित किया जाना चाहिए। भारतीय समाज ने यह बहुत पहले अनुभव कर लिया था कि कर्मों की निष्पत्ति उपयुक्त स्वास्थ्य, शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं सामाजिक कल्याण की स्थिति, पर निर्भर करती है और यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि स्वास्थ्य धर्म की निष्पत्ति की पूर्व आवश्यकता है– 'शरीमाद्यं खलु धर्म साधनम्'। पुनीत कर्तव्यों के सम्पादन के लिए स्वास्थ्य पहली और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। जहाँ तक परम्परागत भारतीय समाज के स्वास्थ्य के संरक्षण व संवर्धन हेतु बनायी गयी व्यवस्था का प्रश्न है, प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर था। जड़ी–बूटियों द्वारा इलाज किया जाता था। अथर्ववेद में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि प्रत्येक गाँव में मानव प्राणियों और पशुओं दोनों के लिए चिकित्सालय थे जिनमें बिना किसी भेद–भाव के उपचार की सुविधाएँ उपलब्ध थी। गाँव के प्रत्येक वैद्य का यह दायित्व था कि वह लोगों को अपने ज्ञान से स्वस्थ रखे। चरक ने वैद्यों के चार गुणों का उल्लेख किया है–

1. शास्त्रों का व्यापक ज्ञान।
2. जड़ी–बूटियों से बनी दवा से उपचार करने की क्षमता।
3. उपयुक्त समय पर जड़ी–बूटियों के उपयोग की निपुणता।
4. आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धता।

हमारे ऋषियों और मुनियों ने इस बात को पूर्णरूपेण अनुभव कर लिया था कि समाज में सभी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं हो सकता और वे निर्धारित दायित्वों और कर्त्तव्यों के प्रतिपादन की दृष्टि से अपेक्षित क्रिया को सम्पादित करने में सक्षम नहीं हो सकते अर्थात् इनमें से कुछ अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण दुर्भाग्यशाली हो सकते हैं और इन्हीं प्रारब्ध कर्मों के परिणामस्वरूप उन्हें अनेक प्रकार की वंचनाओं, दुःखों और कष्टों को भुगतना पड़ता है तथा नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक व्याधियों को झेलना पड़ता है। समाज के निर्बल एवं शोषण किए जाने की दृष्टि से सरलतापूर्वक शिकार होने वाले व्यक्तियों के संदर्भ में भारतीय समाज में विशिष्ट प्रकार के प्रावधान किये गये थे जिनके अधीन प्रत्येक व्यक्ति से इस बात की अपेक्षा की जाती थी कि वह स्वयं अपनी तथा अपने ऊपर आश्रित व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करे। अपरिग्रह का मूल्य सामाजिक रूप से स्वीकृत एवं व्यापक मूल्य था। इसके अधीन लोग अपनी और आश्रितों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक वस्तुओं का त्याग करते हुए समाज में आवश्यकताग्रस्त बन्धुओं की सहायता करते थे। दान को एक कर्तव्य के रूप में महिमा मंडित किया गया और स्वर्ग प्राप्ति के एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य था कि वह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को दूसरों को दान प्रदान कर आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों की सहायता करे। महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जो व्यक्ति आवश्यकताग्रस्त व्यक्ति को वस्त्र, भोजन, धन एवं जल प्रदान करता है, वह स्वर्ग जाता है, जो कुएँ खोदते हैं, पेड़ लगाते हैं, सराय बनाते हैं, वे देवलोक में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।

हमारे दर्शन का सबसे अधिक उल्लेखनीय लक्षण यह रहा है कि हम यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो हमें दूसरों को यातनाओं और कष्टों से मुक्ति दिलाते हुए उनके कल्याण को प्रोत्साहित करना होगा। हमें अपने सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करने के लिए अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का परित्याग करते हुए उनका दान देना होगा। हमारे यहाँ यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य मूल्य हैः

अष्टादस पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्
परोपकाराय पुण्याय पापाय परिपीड़नम्'

अर्थात अट्ठारह पुराणों में महर्षि वेदव्यास ने केवल दो बातें कहीं हैं– परोपकार ही पुण्य है और दूसरों का उत्पीड़न ही पाप।

सन्दर्भित ग्रन्थ

1. गोपालन, एस0, हिन्दू सोशल फिलासफी, वेजले स्टिर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979
   'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नराः। (गीता, 18/45)
   'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'
   तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्यम्।' (गीता, 4/13)
   'नियतं संगरहितरागद्वेषः कृतम्।
   अफलप्रेप्सुना, कर्म यत्ततसात्विकमुच्यते।।' (गीता, 16/23)
   'यत्तु कामेप्सुना, कर्म साहंकारेण वा पुनः।
   क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाह्यतम्।।'' (गीता, 16/24)
   'अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेख्य च पौरुषम्।
   मोहादारम्यते कर्म यत्तामसमुच्चते।।' (गीता, 18/25)
2. जालान मोतीलाल, श्रीमद्भवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1950
   'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवनिगृह्णाति नरोपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानिदेही।।' (गीता, 2/40)
   'मतः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
   मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।' (गीता, 7/7)
3. कौटिल्य, अर्थशास्त्र–द्वितीय, मोतीलाल जालान, श्रीमदभगवद्गीता, पूर्वाल्लिखित से उद्धृत।
4. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, रीलिजन एण्ड सोशायटी, एलेन एण्ड आन्विन, लन्दन, 1947
5. रानाडे, आर0डी0, ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आफ द उपनिषदिक फिलासफी, पृ0 299–300, बी0जी0 गोखले, इंडियन थाट थ्रू द एजेज, एशिया पलिशिंग हाऊस, मुम्बई, 1061 में उल्लिखित।